जैनधर्म का प्राण

ब्राह्मण और श्रमण परंपरा—

अभी जैनधर्म नाम से जो आचार-विचार पहचाना जाता है वह भगवान् पार्श्वनाथ के समय में खास कर महावीर के समय में निग्गंठ धम्म—निर्ग्रन्थ धर्म नाम से भी पहचाना जाता था, परन्तु वह श्रमण धर्म भी कहलाता है। अंतर है तो इतना ही है कि एकमात्र जैनधर्म ही श्रमण धर्म नहीं है, श्रमण धर्म की और भी अनेक शाखाएँ भूतकाल में थीं और अब भी बौद्ध आदि कुछ शाखाएँ जीवित हैं। निर्ग्रन्थ धर्म या जैनधर्म में श्रमण धर्म के सामान्य लक्षणों के होते हुए भी आचार-विचार की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसको श्रमण धर्म की अन्य शाखाओं से पृथक् करती हैं। जैन धर्म के आचार-विचार की ऐसी विशेषताओं को जानने के पूर्व अच्छा यह होगा कि हम प्रारंभ में ही श्रमण धर्म की विशेषता को भलीभाँति जान लें जो उसे ब्राह्मण धर्म से अलग करती हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पट अनेक व विविधरंगी है, जिसमें अनेक धर्म परंपराओं के रङ्ग मिश्रित हैं। इसमें मुख्यतया ध्यान में आनेवाली दो धर्म परम्पराएँ हैं—(१) ब्राह्मण (२) श्रमण। इन दो परम्पराओं के पौर्वापर्य तथा स्थान आदि विवादास्पद प्रश्नों को न उठाकर, केवल ऐसे मुद्दों पर थोड़ी सी चर्चा की जाती है, जो सर्व संमत जैसे हैं तथा जिनसे श्रमण धर्म की मूल भित्ती को पहचानना और उसके द्वारा निर्ग्रन्थ या जैनधर्म को समझना सरल हो जाता है।

वैषम्य और साम्य दृष्टि—

ब्राह्मण और श्रमण परम्पराओं के बीच छोटे-बड़े अनेक विषयों में मौलिक अंतर है, पर उस अंतर को संक्षेप में कहना हो तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मण—वैदिक परम्परा वैषम्य पर प्रतिष्ठित है, जब कि श्रमण परम्परा साम्य पर प्रतिष्ठित है। यह वैषम्य और साम्य मुख्यतया तीन बातों में देखा जाता है—(१) समाजविषयक (२) साध्यविषयक और (३) प्राणी जगत् के प्रति दृष्टि विषयक। समाज विषयक वैषम्य का अर्थ है कि समाज रचना में तथा धर्माधि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार में वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व व मुख्यत्व तथा इतर वर्णों का ब्राह्मण की अपेक्षा कनिष्ठत्व व गौणत्व। ब्राह्मण धर्म का वास्तविक साध्य है अभ्युदय, जो ऐहिक समृद्धि, राज्य और पुत्र, पशु आदि के नानाविध लाभों में तथा इन्द्रपद, स्वर्गीय सुख आदि नानाविध पारलौकिक फलों के लाभों में समाता है। अभ्युदय का साधन मुख्यतया यज्ञधर्म अर्थात् नानाविध यज्ञ हैं।[1] इस धर्म में पशु-पक्षी आदि की बलि अनिवार्य मानी गई है और कहा गया है कि वेदविहित हिंसा धर्म का ही हेतु है। इस विधान में बलि किये जानेवाले निरपराध पशु-पक्षी आदि के प्रति स्पष्टतया आत्मसाम्य के अभाव की अर्थात् आत्मवैषम्य की दृष्टि है। इसके विपरीत उक्त तीनों बातों में श्रमण धर्म का साम्य इस प्रकार है। श्रमण धर्म समाज में किसी भी वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व न मानकर गुण-कर्मकृत ही श्रेष्ठत्व व कनिष्ठत्व मानता है, इसलिए वह समाज रचना तथा धर्माधिकार में जन्मसिद्ध वर्ण भेद का आदर न करके गुण कर्म के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था करता है। अतएव उसकी दृष्टि में सद्गुणी शूद्र भी दुर्गुणी ब्राह्मण आदि से श्रेष्ठ है, और धार्मिक क्षेत्र में योग्यता के आधार पर हर एक वर्ण का पुरुष या स्त्री समान रूप से उच्च पद का अधिकारी है। श्रमण धर्म का अंतिम साध्य ब्राह्मण धर्म की तरह अभ्युदय न होकर निःश्रेयस है। निःश्रेयस का अर्थ है कि ऐहिक पारलौकिक नानाविध सब लाभों का त्याग सिद्ध करनेवाली ऐसी स्थिति, जिसमें पूर्ण साम्य प्रकट होता है और कोई किसी से कम योग्य या अधिक योग्य रहने नहीं पाता। जीव जगत् के प्रति श्रमण धर्म की दृष्टि पूर्ण आत्म साम्य की है, जिसमें न केवल पशु-पक्षी आदि या कीट-पतंग आदि जन्तु का ही समावेश होता है किन्तु वनस्पति जैसे अति क्षुद्र जीव वर्ग का भी समावेश होता है। इसमें किसी भी देहधारी का किसी भी निमित्त से किया जानेवाला वध आत्मवध जैसा ही माना गया है और वध मात्र को अधर्म का हेतु माना है।

ब्राह्मण परम्परा मूल में 'ब्रह्मन्' के आसपास शुरू और विकसित हुई है, जब कि श्रमण परम्परा 'सम'-साम्य, शम और श्रम के आसपास शुरू एवं विकसित हुई है। ब्रह्मन् के अनेक अर्थों में से प्राचीन दो अर्थ इस जगह ध्यान देने योग्य हैं।

---

१ "कर्मफलबाहुल्याच्च पुत्रस्वर्गब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्यासंख्येयत्वात् तत्प्रति च पुरुषाणां कामबाहुल्यात् तदर्थः श्रुतेरपि को यत्नः कर्मसूपपद्यते।"—तैत्ति० १–११। शांकरभाष्य (पूना आष्टेकर कं०) पृ० ३५३। यही बात "परिणामतापसंस्कारैः गुणवृत्तिविरोधात्" इत्यादि योगसूत्र तथा उसके भाष्य में कही है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में भी है जो मूल कारिका का स्पष्टीकरण मात्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) स्तुति, प्रार्थना, (२) यज्ञ यागादि कर्म। वैदिक मंत्रों एवं सूक्तों के द्वारा जो नानाविध स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ की जाती हैं वह ब्रह्मन् कहलाता है। इसी तरह वैदिक मंत्रों के विनियोग वाला यज्ञ यागादि कर्म भी ब्रह्मन् कहलाता है। वैदिक मंत्रों और सूक्तों का पाठ करनेवाला पुरोहित वर्ग और यज्ञ यागादि करानेवाला पुरोहित वर्ग ही ब्राह्मण है। वैदिक मंत्रों के द्वारा की जानेवाली स्तुति-प्रार्थना एवं यज्ञ यागादि कर्म की अति प्रतिष्ठा के साथ ही साथ पुरोहित वर्ग का समाज में एवं तत्कालीन धर्म में ऐसा प्राधान्य स्थिर हुआ कि जिससे वह ब्राह्मण वर्ग अपने आपको जन्म से ही श्रेष्ठ मानने लगा और समाज में भी बहुधा वही मान्यता स्थिर हुई जिसके आधार पर वर्ग भेद की मान्यता रूढ़ हुई और कहा गया कि समाजपुरुष का मुख ब्राह्मण है और इतर वर्ण अन्य अंग हैं। इसके विपरीत श्रमण धर्म यह मानता मनवाता था कि सभी सामाजिक स्त्री-पुरुष सत्कर्म एवं धर्मपद के समान रूप से अधिकारी हैं। जो प्रयत्नपूर्वक योग्यता लाभ करता है वह वर्ग एवं लिंगभेद के बिना ही गुरुपद का अधिकारी बन सकता है। यह सामाजिक एवं धार्मिक समता की मान्यता जिस तरह ब्राह्मण धर्म की मान्यता से बिलकुल विरुद्ध थी उसी तरह साध्यविषयक दोनों की मान्यता भी परस्पर विरुद्ध रही। श्रमण धर्म ऐहिक या पारलौकिक अभ्युदय को सर्वथा हेय मान कर निःश्रेयस को ही एक मात्र उपादेय मानने की ओर अग्रसर था और इसीलिए वह साध्य की तरह साधनगत साम्य पर भी उतना ही भार देने लगा। निःश्रेयस के साधनों में मुख्य है अहिंसा। किसी भी प्राणी की किसी भी प्रकार से हिंसा न करना यही निःश्रेयस का मुख्य साधन है, जिसमें अन्य सब साधनों का समावेश हो जाता है। यह साधनगत साम्यदृष्टि हिंसाप्रधान यज्ञ यागादि कर्म की दृष्टि से बिलकुल विरुद्ध है। इस तरह ब्राह्मण और श्रमण धर्म का वैषम्य और साम्यमूलक इतना विरोध है कि जिससे दोनों धर्मों के बीच पद-पद पर संघर्ष की संभावना है, जो सहस्रों वर्षों के इतिहास में लिपिबद्ध है। यह पुराना विरोध ब्राह्मण काल में भी था और बुद्ध एवं महावीर के समय में तथा इसके बाद भी। इसी चिरंतन विरोध के प्रवाह को महाभाष्यकार पतंजलि ने अपनी वाणी में व्यक्त किया है। वैयाकरण पाणिनि ने सूत्र में शाश्वत विरोध का निर्देश किया है। पतंजलि शाश्वत' —जन्म सिद्ध विरोध वाले अहि-नकुल, गो-व्याघ्र जैसे द्वन्द्वों के उदाहरण देते हुए साथ-साथ ब्राह्मण-श्रमण का भी उदाहरण देते हैं[1]। यह ठीक है कि हजार प्रयत्न करने पर भी अहि-नकुल या गो-व्याघ्र का विरोध निर्मूल नहीं हो सकता, जब कि

---

१. महाभाष्य २.४. ९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयत्न करने पर ब्राह्मण और श्रमण का विरोध निर्मूल हो जाना संभव है और इतिहास में कुछ उदाहरण ऐसे उपलब्ध भी हुए हैं जिनमें ब्राह्मण और श्रमण के बीच किसी भी प्रकार का वैमनस्य या विरोध देखा नहीं जाता। परन्तु पतंजलि का ब्राह्मण-श्रमण का शाश्वत विरोध विषयक कथन व्यक्तिपरक न होकर वर्गपरक है। कुछ व्यक्तियाँ ऐसी संभव हैं जो ऐसे विरोध से परे हुई हैं या हो सकती हैं परन्तु सारा ब्राह्मण वर्ग या सारा श्रमण वर्ग मौलिक विरोध से परे नहीं है यही पतंजलि का तात्पर्य है। 'शाश्वत' शब्द का अर्थ अविचल न होकर प्रावाहिक इतना ही अभिप्रेत है। पतंजलि से अनेक शताब्दियों के बाद होनेवाले जैन आचार्य हेमचंद्र ने भी ब्राह्मण-श्रमण उदाहरण देकर पतंजलि के अनुभव की यथार्थता पर मुहर लगाई है[1]। आज इस समाजवादी युग में भी हम यह नहीं कह सकते कि ब्राह्मण और श्रमण वर्ग के बीच विरोध का बीज निर्मूल हुआ है। इस सारे विरोध की जड़ ऊपर सूचित वैषम्य और साम्य की दृष्टि का पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर ही है।

परस्पर प्रभाव और समन्वय—

ब्राह्मण और श्रमण परंपरा परस्पर एक दूसरे के प्रभाव से बिलकुल अछूती नहीं है। छोटी-मोटी बातों में एक का प्रभाव दूसरे पर न्यूनाधिक मात्रा में पड़ा हुआ देखा जाता है। उदाहरणार्थ श्रमण धर्म की साम्यदृष्टिमूलक अहिंसा भावना का ब्राह्मण परम्परा पर क्रमशः इतना प्रभाव पड़ा है कि जिससे यज्ञीय हिंसा का समर्थन केवल पुरानी शास्त्रीय चर्चाओं का विषय मात्र रह गया है, व्यवहार में यज्ञीय हिंसा लुप्त सी हो गई है। अहिंसा व "सर्वभूतहिते रतः" सिद्धांत का पूरा आग्रह रखनेवाली सांख्य, योग, औपनिषद, अवधूत, सात्वत आदि जिन परम्पराओं ने ब्राह्मण परम्परा के प्राणभूत वेद विषयक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के पुरोहित व गुरु पद का आत्यंतिक विरोध नहीं किया वे परम्पराएँ क्रमशः ब्राह्मण धर्म के सर्वसंग्राहक क्षेत्र में एक या दूसरे रूप में मिल गई हैं। इसके विपरीत जैन बौद्ध आदि जिन परम्पराओं ने वैदिक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के गुरु पद के विरुद्ध आत्यंतिक आग्रह रखा वे परम्पराएँ यद्यपि सदा के लिए ब्राह्मण धर्म से अलग ही रही हैं फिर भी उनके शास्त्र एवं निवृत्ति धर्म पर ब्राह्मण परम्परा की लोकसंग्राहक वृत्ति का एक या दूसरे रूप में प्रभाव अवश्य पड़ा है।

श्रमण परंपरा के प्रवर्तक—

श्रमण धर्म के मूल प्रवर्तक कौन-कौन थे, वे कहाँ-कहाँ और कब हुए इसका

---

१. सिद्धहैम० ३. १. १४१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथार्थ और पूरा इतिहास अद्यावधि अज्ञात है पर हम उपलब्ध साहित्य के आधार से इतना तो निःशंक कह सकते हैं कि नाभिपुत्र ऋषभ तथा आदि विद्वान् कपिल ये साम्य धर्म के पुराने और प्रबल समर्थक थे। यही कारण है कि उनका पूरा इतिहास अंधकार-ग्रस्त होने पर भी पौराणिक परम्परा में से उनका नाम लुप्त नहीं हुआ है। ब्राह्मण-पुराण ग्रन्थों में ऋषभ का उल्लेख उग्र तपस्वी के रूप में है सही पर उनकी पूरी प्रतिष्ठा तो केवल जैन परम्परा में ही है, जब कि कपिल का ऋषि रूप से निर्देश जैन कथा साहित्य में है फिर भी उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा तो सांख्य परंपरा में तथा सांख्यमूलक पुराण ग्रंथों में ही है। ऋषभ और कपिल आदि द्वारा जिस आत्मौपम्य भावना की और तन्मूलक अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा जमी थी उस भावना और धर्म की पोषक अनेक शाखा-प्रशाखाएँ थीं जिनमें से कोई बाह्य तप पर, तो कोई ध्यान पर, तो कोई मात्र चित्त-शुद्धि या असंगता पर अधिक भार देती थी। पर साम्य या समता सबका समान ध्येय था।

जिस शाखा ने साम्यसिद्धि मूलक अहिंसा को सिद्ध करने के लिए अपरिग्रह पर अधिक भार दिया और उसी में से अगार—गृह—ग्रन्थ या अपरिग्रह बंधन के त्याग पर अधिक भार दिया और कहा कि जब तक परिवार एवं परिग्रह का बंधन हो तब तक कभी पूर्ण अहिंसा या पूर्ण साम्य सिद्ध नहीं हो सकता, श्रमण धर्म की वही शाखा निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके प्रधान प्रवर्तक नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ ही जान पड़ते हैं।

वीतरागता का आग्रह—

अहिंसा की भावना के साथ साथ तप और त्याग की भावना अनिवार्य रूप से निर्ग्रन्थ धर्म में ग्रथित तो हो ही गई थी परन्तु साधकों के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि बाह्य त्याग पर अधिक भार देने से क्या आत्मशुद्धि या साम्य पूर्णतया सिद्ध होना संभव है? इसी के उत्तर में से यह विचार फलित हुआ कि राग द्वेष आदि मलिन वृत्तियों पर विजय पाना ही मुख्य साध्य है। इस साध्य की सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप या जिस त्याग से न हो सके वह अहिंसा, तप या त्याग कैसा ही क्यों न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। इसी विचार के प्रवर्तक 'जिन' कहलाने लगे। ऐसे जिन अनेक हुए हैं। सच्चक, बुद्ध, गोशालक और महावीर ये सब अपनी-अपनी परम्परा में जिन रूप से प्रसिद्ध रहे हैं परंतु आज जिनकथित जैनधर्म कहने से मुख्यतया महावीर के धर्म का ही बोध होता है जो राग-द्वेष के विजय पर ही मुख्यतया भार देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म विकास का इतिहास कहता है कि उत्तरोत्तर उदय में आनेवाली नई-नई धर्म की अवस्थाओं में उस उस धर्म की पुरानी अविरोधी अवस्थाओं का समावेश अवश्य रहता है। यही कारण है कि जैनधर्म निर्ग्रन्थ धर्म भी है और श्रमण धर्म भी है।

श्रमण धर्म की साम्यदृष्टि—

अब हमें देखना यह है कि श्रमण धर्म की प्राणभूत साम्य भावना का जैन परम्परा में क्या स्थान है? जैन श्रुत रूप से प्रसिद्ध द्वादशांगी या चतुर्दश पूर्व में 'सामाइय'—'सामायिक' का स्थान प्रथम है, जो आचारांग सूत्र कहलाता है। जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर के आचार-विचार का सीधा और स्पष्ट प्रतिबिम्ब मुख्यतया उसी सूत्र में देखने को मिलता है। इसमें जो कुछ कहा गया है उस सब में साम्य, समता या सम पर ही पूर्णतया भार दिया गया है। 'सामाइय' इस प्राकृत या मागधी शब्द का संबंध साम्य, समता या सम से है। साम्यदृष्टिमूलक और साम्यदृष्टिपोषक जो-जो आचार-विचार हों वे सब सामाइय—सामायिक रूप से जैन परम्परा में स्थान पाते हैं। जैसे ब्राह्मण परम्परा में संध्या एक आवश्यक कर्म है वैसे ही जैन परम्परा में भी गृहस्थ और त्यागी सब के लिए छः आवश्यक कर्म बतलाए हैं जिनमें मुख्य सामाइय है। अगर सामाइय न हो तो और कोई आवश्यक सार्थक नहीं है। गृहस्थ या त्यागी अपने-अपने अधिकारानुसार जब-जब धार्मिक जीवन को स्वीकार करता है तब-तब वह 'करेमि भंते! सामाइयं' ऐसी प्रतिज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि हे भगवन्! मैं समता या समभाव को स्वीकार करता हूँ। इस समता का विशेष स्पष्टीकरण आगे के दूसरे पद में किया गया है। उसमें कहा है कि मैं सावद्ययोग अर्थात् पाप व्यापार का यथाशक्ति त्याग करता हूँ। 'सामाइय' की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण सातवीं सदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उस पर विशेषावश्यकभाष्य नामक अति विस्तृत ग्रन्थ लिखकर बतलाया है कि धर्म के अंगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही सामाइय हैं।

सच्ची वीरता के विषय में जैनधर्म, गीता और गांधीजी—

सांख्य, योग और भागवत जैसी अन्य परंपराओं में पूर्वकाल से साम्यदृष्टि की जो प्रतिष्ठा थी उसी का आधार लेकर भगवद्गीताकार ने गीता की रचना की है। यही कारण है कि हम गीता में स्थान-स्थान पर समदर्शी, साम्य, समता जैसे शब्दों के द्वारा साम्यदृष्टि का ही समर्थन पाते हैं। गीता और आचारांग की साम्य भावना मूल में एक ही है, फिर भी वह परंपराभेद से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यान्य भावनाओं के साथ मिलकर भिन्न हो गई है। अर्जुन को साम्य भावना के प्रबल आवेग के समय भी भैक्ष्य जीवन स्वीकार करने से गीता रोकती है और शस्त्रयुद्ध का आदेश करती है, जब कि आचारांग सूत्र अर्जुन को ऐसा आदेश न करके यही कहेगा कि अगर तुम सचमुच क्षत्रिय वीर हो तो साम्यदृष्टि आने पर हिंसक शस्त्रयुद्ध नहीं कर सकते बल्कि भैक्ष्यजीवनपूर्वक आध्यात्मिक शत्रु के साथ युद्ध के द्वारा ही सच्चा क्षत्रियत्व सिद्ध कर सकते हो।[1] इस कथन की द्योतक भरत-बाहुबली की कथा जैन साहित्य में प्रसिद्ध है, जिसमें कहा गया है कि सहोदर भरत के द्वारा उग्र प्रहार पाने के बाद बाहुबली ने जब प्रतिकार के लिए हाथ उठाया तभी समभाव की वृत्ति प्रकट हुई। उस वृत्ति के आवेग में बाहुबली ने भैक्ष्य जीवन स्वीकार किया पर प्रतिप्रहार करके न तो भरत का बदला चुकाया और न उससे अपनी न्यायोचित राज्यभाग लेने का सोचा। गांधीजी ने गीता और आचारांग आदि में प्रतिपादित साम्य भाव को अपने जीवन में यथार्थ रूप से विकसित किया और उसके बल पर कहा कि मानवसंहारक युद्ध तो छोड़ो, पर साम्य या चित्तशुद्धि के बल पर ही अन्याय के प्रतिकार का मार्ग भी ग्रहण करो। पुराने संन्यास या त्यागी जीवन का ऐसा अर्थ विकास गांधीजी ने समाज में प्रतिष्ठित किया है।

साम्यदृष्टि और अनेकान्तवाद

जैन परंपरा का साम्य दृष्टि पर इतना अधिक भार है कि उसने साम्य दृष्टि को ही ब्राह्मण परंपरा में लब्धप्रतिष्ठ ब्रह्म कहकर साम्यदृष्टिपोषक सारे आचार विचार को 'ब्रह्मचर्य'—'बम्भचेराई' कहा है, जैसा कि बौद्ध परंपरा ने मैत्री आदि भावनाओं को ब्रह्मविहार कहा है। इतना ही नहीं पर धम्मपद[2] और शांति पर्व की तरह जैन ग्रन्थ[3] में भी समत्व धारण करनेवाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकर श्रमण और ब्राह्मण के बीच का अंतर मिटाने का प्रयत्न किया है।

साम्यदृष्टि जैन परम्परा में मुख्यतया दो प्रकार से व्यक्त हुई है—(१) आचार में और (२) विचार में। जैन धर्म का बाह्य-आभ्यन्तर, स्थूल-सूक्ष्म सब आचार साम्य दृष्टि मूलक अहिंसा के केन्द्र के आसपास ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा और पुष्टि न होती हो ऐसे किसी भी आचार को जैन परम्परा मान्य नहीं रखती। यद्यपि सब धार्मिक परम्पराओं ने अहिंसा तत्त्व पर

१. आचारांग १-५-३।

२. ब्राह्मण वर्ग २६।

३. उत्तराध्ययन २५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्यूनाधिक भार दिया है पर जैन परम्परा ने उस तत्त्व पर जितना भार दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है, उतना भार और उतनी व्यापकता अन्य धर्म परम्परा में देखी नहीं जाती। मनुष्य, पशु-पक्षी कीट-पतंग, और वनस्पति ही नहीं बल्कि पार्थिव जलीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओं तक की हिंसा से आत्मौपम्य की भावना द्वारा निवृत्त होने के लिए कहा गया है।

विचार में साम्य दृष्टि की भावना पर जो भार दिया गया है उसी में से अनेकान्त दृष्टि या विभज्यवाद का जन्म हुआ है। केवल अपनी दृष्टि या विचार सरणी को ही पूर्ण अन्तिम सत्य मानकर उस पर आग्रह रखना यह साम्य दृष्टि के लिए घातक है। इसलिए कहा गया है कि दूसरों की दृष्टि का भी उतना ही आदर करना जितना अपनी दृष्टि का। यही साम्य दृष्टि अनेकान्तवाद की भूमिका है। इस भूमिका में से ही भाषा प्रधान स्याद्वाद और विचारप्रधान नयवाद का क्रमशः विकास हुआ है। यह नहीं है कि अन्यान्य परम्पराओं में अनेकान्त दृष्टि का स्थान ही न हो। मीमांसक और कपिल दर्शन के उपरांत न्याय दर्शन में भी अनेकान्तवाद का स्थान है। बुद्ध भगवान् का विभज्यवाद और मध्यममार्ग भी अनेकान्त दृष्टि के ही फल हैं; फिर भी जैन परम्परा ने जैसे अहिंसा पर अत्यधिक भार दिया है वैसे ही उसने अनेकान्त दृष्टि पर भी अत्यधिक भार दिया है। इसलिए जैन परम्परा में आचार या विचार का कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिस पर अनेकान्त दृष्टि लागू न की गई हो या जो अनेकान्त दृष्टि की मर्यादा से बाहर हो। यही कारण है कि अन्यान्य परम्पराओं के विद्वानों ने अनेकांत दृष्टि को मानते हुए भी उस पर स्वतंत्र साहित्य रचा नहीं है, जब कि जैन परम्परा के विद्वानों ने उसके अंगभूत स्याद्वाद, नयवाद आदि के बोधक और समर्थक विपुल स्वतंत्र साहित्य का निर्माण किया है।

अहिंसा—

हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है। यह विचार तब तक पूरा समझ में आ नहीं सकता जब तक यह न बतलाया जाए कि हिंसा किस की होती है तथा हिंसा कौन व किस कारण से करता है और उसका परिणाम क्या है। इसी प्रश्न को स्पष्ट समझाने की दृष्टि से मुख्यतया चार विद्याएँ जैन परम्परा में फलित हुई हैं—(१) आत्मविद्या (२) कर्मविद्या (३) चरित्रविद्या और (४) लोकविद्या। इसी तरह अनेकांत दृष्टि के द्वारा मुख्यतया श्रुतविद्या और प्रमाण विद्या का निर्माण व पोषण हुआ है। इस प्रकार अहिंसा, अनेकांत और तन्मूलक विद्यायें ही जैनधर्म का प्राण है जिस पर आगे संक्षेप में विचार किया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मविद्या और उत्क्रान्तिवाद—

प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीगत, जलगत या वनस्पतिगत हो या कीट-पतंग पशु-पक्षी रूप हो या मानव रूप हो वह सब तात्त्विक दृष्टि से समान है। यही जैन आत्मविद्या का सार है। समानता के इस सैद्धान्तिक विचार को अमल में लाना—उसे यथासंभव जीवन के व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में उतारने का अप्रमत्त भाव से प्रयत्न करना यही अहिंसा है। आत्मविद्या कहती कि यदि जीवन-व्यवहार में साम्य का अनुभव न हो तो आत्मसाम्य का सिद्धान्त कोरा वाद मात्र है। समानता के सिद्धान्त को अमली बनाने के लिए ही आचारांग सूत्र के अध्ययन में कहा गया है कि जैसे तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो वैसा ही पर दुःख का अनुभव करो। अर्थात् अन्य के दुःख का आत्मीय दुःख रूप से संवेदन न हो तो अहिंसा सिद्ध होना संभव नहीं।

जैसे आत्म समानता के तात्त्विक विचार में से अहिंसा के आचार का समर्थन किया गया है वैसे ही उसी विचार में से जैन परम्परा में यह भी आध्यात्मिक मंतव्य फलित हुआ है कि जीवगत शारीरिक, मानसिक आदि वैषम्य कितना ही क्यों न हो पर आगंतुक है—कर्ममूलक है, वास्तविक नहीं है। अतएव क्षुद्र से क्षुद्र अवस्था में पड़ा हुआ जीव भी कभी मानवकोटि में आ सकता है और मानवकोटिगत जीव भी क्षुद्रतम वनस्पति अवस्था में जा सकता है, इतना ही नहीं बल्कि वनस्पति जीव विकास के द्वारा मनुष्य की तरह कभी सर्वथा बंधनमुक्त हो सकता है। ऊँच-नीच गति या योनि का एवं सर्वथा मुक्ति का आधार एक मात्र कर्म है। जैसा कर्म, जैसा संस्कार या जैसी वासना वैसी ही आत्मा की अवस्था, पर तात्त्विक रूप से सब आत्माओं का स्वरूप सर्वथा एक-सा है जो नैष्कर्म्य अवस्था में पूर्ण रूप से प्रकट होता है। यही आत्मसाम्यमूलक उत्क्रान्तिवाद है।

सांख्य, योग, बौद्ध आदि द्वैतवादी अहिंसा समर्थक परम्पराओं का और और बातों में जैन परम्परा के साथ जो कुछ मतभेद हो पर अहिंसाप्रधान आचार तथा उत्क्रान्तिवाद के विषय में सब का पूर्ण ऐकमत्य है। आत्माद्वैतवादी औपनिषद परम्परा अहिंसा का समर्थन समानता के सिद्धान्त पर नहीं पर अद्वैत के सिद्धान्त पर करती है। वह कहती है कि तत्त्व रूप से जैसे तुम वैसे ही अन्य सभी जीव शुद्ध ब्रह्म—एक ब्रह्मरूप हैं। जो जीवों का पारस्परिक भेद देखा जाता है वह वास्तवित न होकर अविद्यामूलक है। इसलिए अन्य जीवों को अपने से अभिन्न ही समझना चाहिए और अन्य के दुःख को अपना दुःख समझ कर हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वैतवादी जैन आदि परम्पराओं के और अद्वैतवादी परम्परा के बीच अंतर केवल इतना ही है कि पहली परंपराएँ प्रत्येक जीवात्मा का वास्तविक भेद मान कर भी उन सब में तात्त्विक रूप से समानता स्वीकार करके अहिंसा का उद्‌बोधन करती हैं, जब कि अद्वैत परम्परा जीवात्माओं के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मानकर उनमें तात्त्विक रूप से पूर्ण अभेद मानकर उसके आधार पर अहिंसा का उद्‌बोधन करती हैं। अद्वैत परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि और भिन्न-भिन्न गतिवाले जीवों में दिखाई देनेवाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखंड ब्रह्म हैं, जब कि जैन जैसी द्वैतवादी परम्पराओं के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्त्व रूप से स्वतंत्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परम्परा के अनुसार अखंड एक ब्रह्म में से नानाजीव की सृष्टि हुई है जब कि दूसरी परम्पराओं के अनुसार जुदे-जुदे स्वतंत्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव हैं। द्वैतमूलक समानता के सिद्धान्त में से ही अद्वैतमूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमशः विकसित हुआ जान पड़ता है परन्तु अहिंसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद में भी द्वैतवाद के विचार के अनुसार ही घटाया गया है। बाद कोई भी हो पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या अभेद का वास्तविक संवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्‌गम है।

कर्मविद्या और बंध-मोक्ष—

जब तत्त्वतः सब जीवात्मा समान हैं तो फिर उनमें परस्पर वैषम्य क्यों, तथा एक ही जीवात्मा में काल भेद से वैषम्य क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में से ही कर्म-विद्या का जन्म हुआ है। जैसा कर्म वैसी अवस्था यह मान्यता वैषम्य का स्पष्टीकरण तो कर देती है, पर साथ ही साथ यह भी कहती है कि अच्छा या बुरा कर्म करने एवं न करने में जीव ही स्वतंत्र है, जैसा वह चाहे वैसा सत् या असत् पुरुषार्थ कर सकता है और वही अपने वर्तमान और भावी का निर्माता है। कर्म-वाद कहता है कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर और भविष्य का निर्माण वर्तमान के आधार पर होता है। तीनों काल की पारस्परिक संगति कर्म-वाद पर ही अवलंबित है। यही पुनर्जन्म के विचार का आधार है।

वस्तुतः अज्ञान और राग-द्वेष ही कर्म है। अपने पराये की वास्तविक प्रतीति न होना अज्ञान या जैन परम्परा के अनुसार दर्शन मोह है। इसी को सांख्य, बौद्ध आदि अन्य परम्पराओं में अविद्या कहा है। अज्ञान-जनित इष्टानिष्ट की कल्पनाओं के कारण जो-जो वृत्तियाँ, या जो-जो विकार पैदा होते हैं वही संक्षेप में राग-द्वेष कहे गए हैं। यद्यपि राग-द्वेष ही हिंसा के प्रेरक हैं पर वस्तुतः सब की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जड़ अज्ञान--दर्शन मोह या अविद्या ही है, इसलिए हिंसा की असली जड़ अज्ञान ही है। इस विषय में आत्मवादी सब परंपराएँ एकमत हैं।

ऊपर जो कर्म का स्वरूप बतलाया है वह जैन परिभाषा में भाव कर्म है और वह आत्मगत संस्कार विशेष है। यह भावकर्म आत्मा के इर्दगिर्द सदा वर्तमान ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक परमाणुओं को आकृष्ट करता है और उसे विशिष्ट रूप अर्पित करता है। विशिष्ट रूप प्राप्त यह भौतिक परमाणु पुंज ही द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर कहलाता है जो जन्मान्तर में जीव के साथ जाता है और स्थूल शरीर के निर्माण की भूमिका बनता है। ऊपर-ऊपर से देखने पर मालूम होता है कि द्रव्यकर्म का विचार जैन परंपरा की कर्मविद्या में है, पर अन्य परंपरा की कर्मविद्या में वह नहीं है, परन्तु सूक्ष्मता से देखनेवाला जान सकता है कि वस्तुतः ऐसा नहीं है। सांख्य-योग, वेदान्त आदि परंपराओं में जन्मजन्मान्तर-गामी सूक्ष्म या लिंग शरीर का वर्णन है। यह शरीर अन्तःकरण, अभिमान मन आदि प्राकृत या मायिक तत्त्वों का बना हुआ माना गया है जो वास्तव में जैन परंपरासंमत भौतिक कार्मण शरीर के ही स्थान में है। सूक्ष्म या कार्मण शरीर की मूल कल्पना एक ही है। अन्तर है तो उसके वर्णन प्रकार में और न्यूनाधिक विस्तार में एवं वर्गीकरण में, जो हजारों वर्ष से जुदा-जुदा विचार-चिंतन करने वाली परंपराओं में होना स्वाभाविक है। इस तरह हम देखते हैं तो आत्मवादी सब परंपराओं में पुनर्जन्म के कारण रूप से कर्मतत्त्व का स्वीकार है और जन्म-जन्मान्तरगामी भौतिक शरीररूप द्रव्यकर्म का भी स्वीकार है। न्याय वैशेषिक परंपरा जिसमें ऐसे सूक्ष्म शरीर का कोई खास स्वीकार नहीं है उसने भी जन्मजन्मान्तरगामी अणुरूप मन को स्वीकार करके द्रव्य कर्म के विचार को अपनाया है।

पुनर्जन्म और कर्म की मान्यता के बाद जब मोक्ष की कल्पना भी तत्त्वचिंतन में स्थिर हुई तब से अभी तक की बंध-मोक्षवादी भारतीय तत्त्वचिंतकों की आत्म-स्वरूप-विषयक मान्यताएँ कैसी-कैसी हैं और उनमें विकासक्रम की दृष्टि से जैन मन्तव्य के स्वरूप का क्या स्थान है, इसे समझने के लिए संक्षेप में बंधमोक्षवादी मुख्य-मुख्य सभी परंपराओं के मन्तव्यों को नीचे दिया जाता है। (१) जैन परंपरा के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर में जुदा-जुदा है। वह स्वयं शुभाशुभ कर्म का कर्ता और कर्म के फल--सुख-दुःख आदि का भोक्ता है। वह जन्मान्तर के समय स्थानान्तर को जाता है और स्थूल देह के अनुसार संकोच विस्तार धारण करता है। यही मुक्ति पाता है और मुक्तिकाल में सांसारिक सुख-दुःख ज्ञान-अज्ञान आदि शुभाशुभ कर्म आदि भावों से सर्वथा छूट जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) सांख्य योग परंपरा के अनुसार आत्मा भिन्न-भिन्न है पर वह कूटस्थ एवं व्यापक होने से न कर्म का कर्ता, भोक्ता, जन्मान्तरगामी, गतिशील है और न तो मुक्तिगामी ही है। उस परंपरा के अनुसार तो प्राकृत बुद्धि या अन्तःकरण ही कर्म का कर्ता भोक्ता जन्मान्तरगामी संकोच विस्तारशील ज्ञान-अज्ञान आदि भावों का आश्रय और मुक्ति-काल में उन भावों से रहित है। सांख्य योग परंपरा अन्तःकरण के बंधमोक्ष को ही उपचार से पुरुष के मान लेती है। (३) न्यायवैशेषिक परंपरा के अनुसार आत्मा अनेक हैं, वह सांख्य योग की तरह कूटस्थ और व्यापक माना गया है फिर भी वह जैन परंपरा की तरह वास्तविक रूप से कर्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त भी माना गया है। (४) अद्वैतवादी वेदान्त के अनुसार आत्मा वास्तव में नाना नहीं पर एक ही है। वह सांख्य योग की तरह कूटस्थ और व्यापक है अतएव न तो वास्तव में बद्ध है और न मुक्त। उसमें अन्तःकरण का बंधमोक्ष ही उपचार से माना गया है। (५) बौद्धमत के अनुसार आत्मा या चित्त नाना है; वही कर्ता, भोक्ता, बंध और निर्वाण का आश्रय है। वह न तो कूटस्थ है, न व्यापक, वह केवल ज्ञानक्षणपरंपरा रूप है जो हृदय इन्द्रिय जैसे अनेक केन्द्रों में एक साथ या क्रमशः निमित्तानुसार उत्पन्न व नष्ट होता रहता है।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि जैन परंपरा संमत आत्मस्वरूप बंधमोक्ष के तत्त्वचिंतकों की कल्पना का अनुभवमूलक पुराना रूप है। सांख्ययोग संमत आत्मस्वरूप उन तत्त्वचिंतकों की कल्पना की दूसरी भूमिका है। अद्वैतवाद संमत आत्मस्वरूप सांख्ययोग की बहुत्वविषयक कल्पना का एकस्वरूप में परिमार्जनमात्र है, जब कि न्यायवैशेषिक संमत आत्मस्वरूप जैन और सांख्ययोग की कल्पना का मिश्रणमात्र है। बौद्ध संमत आत्मस्वरूप जैन कल्पना का ही तर्कशोधित रूप है।

एकत्वरूप चारित्रविद्या—

आत्मा और कर्म के स्वरूप को जानने के बाद ही यह जाना जा सकता है कि आध्यात्मिक उत्क्रान्ति में चारित्र का क्या स्थान है। मोक्षतत्त्वचिंतकों के अनुसार चारित्र का उद्देश्य आत्मा को कर्म से मुक्त करना ही है। चारित्र के द्वारा कर्म से मुक्ति मान लेने पर भी यह प्रश्न रहता ही है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मा के साथ पहले-पहल कर्म का संबंध कब और क्यों हुआ या ऐसा संबंध किसने किया? इसी तरह यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मतत्त्व के साथ यदि किसी न किसी तरह से कर्म का संबन्ध हुआ माना जाए तो चारित्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के द्वारा मुक्ति सिद्ध होने के बाद भी फिर कर्म संबंध क्यों नहीं होगा? इन दो प्रश्नों का उत्तर आध्यात्मिक सभी चिंतकों ने लगभग एक सा ही दिया है। सांख्ययोग हो या वेदान्त, न्यायवैशेषिक हो या बौद्ध इन सभी दर्शनों की तरह जैन दर्शन का भी यही मंतव्य है कि कर्म और आत्मा का संबंध अनादि है क्योंकि उस संबंध का आदिक्षण सर्वथा ज्ञानसीमा के बाहर है। सभी ने यह माना है कि आत्मा के साथ कर्म—अविद्या या माया का संबंध प्रवाह रूप से अनादि है फिर भी व्यक्ति रूप से वह संबंध सादि है क्योंकि हम सबका ऐसा अनुभव है कि अज्ञान और राग-द्वेष से ही कर्मवासना की उत्पत्ति जीवन में होती रहती है। सर्वथा कर्म छूट जाने पर जो आत्मा का पूर्ण शुद्धरूप प्रकट होता है उसमें पुनः कर्म या वासना उत्पन्न क्यों नहीं होती इसका खुलासा तर्कवादी आध्यात्मिक चिंतकों ने यों किया है कि आत्मा स्वभावतः शुद्धि-पक्षपाती है। शुद्धि के द्वारा चेतना आदि स्वाभाविक गुणों का पूर्ण विकास होने के बाद अज्ञान या राग-द्वेष जैसे दोष जड़ से ही उच्छिन्न हो जाते हैं अर्थात् वे प्रयत्नपूर्वक शुद्धि को प्राप्त ऐसे आत्मतत्त्व में अपना स्थान पाने के लिए सर्वथा निर्बल हो जाते हैं।

चारित्र का कार्य जीवनगत वैषम्य के कारणों को दूर करना है, जो जैन परिभाषा में 'संवर' कहलाता है। वैषम्य के मूल कारण अज्ञान का निवारण आत्मा की सम्यक् प्रतीति से होता है और राग-द्वेष जैसे क्लेशों का निवारण माध्यस्थ्य की सिद्धि से। इसलिए आन्तर चारित्र में दो ही बातें आती हैं। (१) आत्म-ज्ञान—विवेक-ख्याति (२) माध्यस्थ्य या राग-द्वेष आदि क्लेशों का जय। ध्यान, व्रत, नियम, तप, आदि जो-जो उपाय आन्तर चारित्र के पोषक होते हैं वे ही बाह्य चारित्र रूप से साधक के लिए उपादेय माने गए हैं।

आध्यात्मिक जीवन की उत्क्रान्ति आन्तर चारित्र के विकासक्रम पर अवलंबित है। इस विकासक्रम का गुणस्थान रूप से जैन परम्परा में अत्यंत विशद और विस्तृत वर्णन है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति क्रम के जिज्ञासुओं के लिए योगशास्त्रप्रसिद्ध मधुमती आदि भूमिकाओं का, बौद्धशास्त्रप्रसिद्ध सोतापन्न आदि भूमिकाओं का, योगवासिष्ठप्रसिद्ध अज्ञान और ज्ञानभूमिकाओं का, आजीवक-परंपराप्रसिद्ध मंद-भूमि आदि भूमिकाओं का और जैन परंपरा प्रसिद्ध गुणस्थानों का तथा योग दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन बहुत रसप्रद एवं उपयोगी है, जिसका वर्णन यहाँ संभव नहीं। जिज्ञासु अन्यत्र प्रसिद्ध [1] लेखों से जान सकता है।

---

१. "भारतीय दर्शनोमां आध्यात्मिक विकासक्रम—पुरातत्त्व १-पृ० १४६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मैं यहाँ उन चौदह गुणस्थानों का वर्णन न करके संक्षेप में तीन भूमिकाओं का ही परिचय दिये देता हूँ, जिनमें गुणस्थानों का समावेश हो जाता है। पहली भूमिका है बहिरात्म, जिसमें आत्मज्ञान या विवेकख्याति का उदय हो नहीं होता। दूसरी भूमिका अन्तरात्म है, जिसमें आत्मज्ञान का उदय तो होता है पर राग-द्वेष आदि क्लेश मंद होकर भी अपना प्रभाव दिखलाते रहते हैं। तीसरी भूमिका है परमात्मा। इसमें राग-द्वेष का पूर्ण उच्छेद होकर वीतरागत्व प्रकट होता है।

लोकविद्या—

लोकविद्या में लोक के स्वरूप का वर्णन है। जीव—चेतन और अजीव—अचेतन या जड़ इन दो तत्त्वों का सहचार ही लोक है। चेतन-अचेतन दोनों तत्त्व न तो किसी के द्वारा कभी पैदा हुए हैं और न कभी नाश पाते हैं फिर भी स्वभाव से परिणामान्तर पाते रहते हैं। संसार काल में चेतन के ऊपर अधिक प्रभाव डालनेवाला द्रव्य एक मात्र जड़-परमाणुपुंज-पुद्गल है, जो नानारूप से चेतन के संबंध में आता है और उसकी शक्तियों को मर्यादित भी करता है। चेतन तत्त्व की साहजिक और मौलिक शक्तियाँ ऐसी हैं जो योग्य दिशा पाकर कभी न कभी उन जड़ द्रव्यों के प्रभाव से उसे मुक्त भी कर देती हैं। जड़ और चेतन के पारस्परिक प्रभाव का क्षेत्र ही लोक है और उस प्रभाव से छुटकारा पाना ही लोकान्त है। जैन परंपरा की लोकक्षेत्र-विषयक कल्पना सांख्य-योग, पुराण और बौद्ध आदि परंपराओं की कल्पना से अनेक अंशों में मिलती-जुलती है।

जैन परंपरा न्यायवैशेषिक की तरह परमाणुवादी है, सांख्ययोग की तरह प्रकृतिवादी नहीं है तथापि जैन परंपरा सम्मत परमाणु का स्वरूप सांख्य-परंपरा सम्मत प्रकृति के स्वरूप के साथ जैसा मिलता है वैसा न्यायवैशेषिकसम्मत परमाणु स्वरूप के साथ नहीं मिलता, क्योंकि जैन सम्मत परमाणु सांख्यसम्मत प्रकृति की तरह परिणामी है, न्यायवैशेषिक सम्मत परमाणु की तरह कूटस्थ नहीं है। इसीलिए जैसे एक ही सांख्यसंमत प्रकृति पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि अनेक भौतिक सृष्टियों का उपादान बनती है वैसे ही जैन सम्मत एक ही परमाणु पृथ्वी, जल, तेज आदि नानारूप में परिणत होता है। जैन परंपरा न्यायवैशेषिक की तरह यह नहीं मानती कि पार्थिव, जलीय आदि भौतिक परमाणु मूल में ही सदा भिन्न जातीय हैं। इसके सिवाय और भी एक अन्तर ध्यान देने योग्य है। वह यह कि जैनसम्मत परमाणु वैशेषिक सम्मत परमाणु की अपेक्षा इतना अधिक सूक्ष्म है कि अन्त में वह सांख्यसम्मत प्रकृति जैसा ही अव्यक्त बन जाता है। जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परंपरा का अनंत परमाणुवाद प्राचीन सांख्यसम्मत पुरुषबहुत्वानुरूप प्रकृति-बहुत्ववाद[१] से दूर नहीं है।

जैनमत और ईश्वर

जैन परंपरा सांख्ययोग मीमांसक आदि परंपराओं की तरह लोक को प्रवाह रूप से अनादि और अनंत ही मानती है। वह पौराणिक या वैशेषिक मत की तरह उसका सृष्टिसंहार नहीं मानती। अतएव जैन परंपरा में कर्ता संहर्ता रूप से ईश्वर जैसी स्वतंत्र व्यक्ति का कोई स्थान ही नहीं है। जैन सिद्धांत कहता है कि प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टि का आप ही कर्ता है। उसके अनुसार तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वर भाव है जो मुक्ति के समय प्रकट होता है। जिसका ईश्वर भाव प्रकट हुआ है वही साधारण लोगों के लिए उपास्य बनता है। योग-शास्त्रसंमत ईश्वर भी मात्र उपास्य है, कर्ता संहर्ता नहीं, पर जैन और योगशास्त्र की कल्पना में अन्तर है। वह यह कि योगशास्त्र सम्मत ईश्वर सदा मुक्त होने के कारण अन्य पुरुषों से भिन्न कोटि का है; जब कि जैनशास्त्र संमत ईश्वर वैसा नहीं है। जैनशास्त्र कहता है कि प्रयत्न साध्य होने के कारण हर कोई योग्य साधक ईश्वरत्व लाभ करता है और सभी मुक्त समान भाव से ईश्वर रूप से उपास्य हैं।

श्रुतविद्या और प्रमाणविद्या—

पुराने और अपने समय तक में ज्ञात ऐसे अन्य विचारकों के विचारों का तथा स्वानुभवमूलक अपने विचारों का सत्यलक्षी संग्रह ही श्रुतविद्या है। श्रुतविद्या का ध्येय यह है कि सत्यस्पर्शी किसी भी विचार या विचारसरणी की अवगणना या उपेक्षा न हो। इसी कारण से जैन परंपरा की श्रुतविद्या नव-नव विद्याओं के विकास के साथ विकसित होती रही है। यही कारण है कि श्रुत-विद्या में संग्रहनयरूप से जहाँ प्रथम सांख्यसम्मत सद्द्वैत लिया गया वहीं ब्रह्मा-द्वैत के विचार विकास के बाद संग्रहनय रूप से ब्रह्माद्वैत विचार ने भी स्थान प्राप्त किया है। इसी तरह जहाँ ऋजुसूत्र नयरूप से प्राचीन बौद्ध क्षणिकवाद संग्रहीत हुआ है वहीं आगे के महायानी विकास के बाद ऋजुसूत्र नयरूप से

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका-पृ०-९९—"मौलिकसांख्या हि आत्मान-मात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति। उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वपि एकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन चारों प्रसिद्ध बौद्ध शाखाओं का संग्रह हुआ है।

अनेकान्त दृष्टि का कार्यप्रदेश इतना अधिक व्यापक है कि इसमें मानव-जीवन की हितावह ऐसी सभी लौकिक लोकोत्तर विद्याएँ अपना-अपना योग्य स्थान प्राप्त कर लेती हैं। यही कारण है कि जैन श्रुतविद्या में लोकोत्तर विद्याओं के अलावा लौकिक विद्याओं ने भी स्थान प्राप्त किया है।

प्रमाणविद्या में प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि ज्ञान के सब प्रकारों का, उनके साधनों का तथा उनके बलाबल का विस्तृत विवरण आता है। इसमें भी अनेकान्त दृष्टि का ऐसा उपयोग किया गया है कि जिससे किसी भी तत्त्वचिंतक के यथार्थ विचार की अवगणना या उपेक्षा नहीं होती, प्रत्युत ज्ञान और उसके साधन से संबंध रखनेवाले सभी ज्ञान विचारों का यथावत् विनियोग किया गया है।

यहाँ तक का वर्णन जैन परंपरा के प्राणभूत अहिंसा और अनेकान्त से संबंध रखता है। जैसे शरीर के बिना प्राण की स्थिति असंभव है वैसे ही धर्मशरीर के सिवाय धर्म प्राण की स्थिति भी असंभव है। जैन परंपरा का धर्मशरीर भी संघ-रचना, साहित्य, तीर्थ, मन्दिर आदि धर्मस्थान, शिल्पस्थापत्य, उपासनाविधि, ग्रंथसंग्राहक भांडार आदि अनेक रूप से विद्यमान है। यद्यपि भारतीय संस्कृति की विरासत के अविकल अध्ययन की दृष्टि से जैनधर्म के ऊपर सूचित अंगों का तात्त्विक एवं ऐतिहासिक वर्णन आवश्यक एवं रसप्रद भी है तथापि वह प्रस्तुत निबंध की मर्यादा के बाहर है। अतएव जिज्ञासुओं को अन्य साधनों के द्वारा अपनी जिज्ञासा को तृप्त करना चाहिए।

ई० १९४९]

—:०:—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org